

तत्त्वज्ञानमे परिपूर्णं

समन्तभद्र-विचार-दीपिका

प्रथम भाग

लेखक

जुगलकिशोर मुद्गतार 'युगवीर'

अधिष्ठाता 'वीर-सेवा-मन्दिर'

सरमाया जि० सहारनपुर

प्रकाशक

वीर-सेवा-मन्दिर

दरिया गज, देहली

प्रथमावृत्ति }

आख्यान, वारसवन २/८०
अप्रैपर १६५

{ तीन खाने

मूल्य—प्रचारने लिये १४) ५० प्रतिशत

प्रकाशकके दो शब्द

— — —

श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तार सरसावा (सहारनपुर) ने अपनी निवृत्तता दोनों पुत्रियों सन्मती और विद्यावती की स्मृतिम एक हजारकी रकम 'सन्मति विद्या निधि' के रूपमें कुछ वर्ष हुए वीरमेवा मन्दिरको सत्साहित्यक प्रकाशनार्थ सुपुर्ण की गी। उसी निधिसे 'सन्मति विद्या प्रकाशमाला' चालू की गई, जिसका लक्ष्य है 'सन्मति जिनेन्द्रजी विद्यागो—भगवान् महावीरके तत्त्वज्ञान और सत्प्रचारको—सहज-बोधगम्य-रीतिसे प्रकाशम लाना। इस प्रकाशमानामें अब तक १ 'प्रनेमान्त-रस-लहरी', २ श्रीगण्डुलि जिनपूजा, ३ सेनाधर्म और ४ परिग्रहना प्रायश्चित्त नामकी चार पुस्तक क्रमशः प्रथम, तृतीय, चतुर्थ और पंचम प्रकाशन रूपमें प्रकाशित हो चुकी हैं, द्वितीय प्रकाशका स्थान रिक्त था जिसकी पूर्ति 'सन्मत्तभद्र विचार-नीतिना' के इस प्रथम भाग द्वारा की जा रही है। इस पुस्तकके और भी भाग यथामय निकाले जायेंगे। दूसरी शताब्दीके अद्वितीय विद्वान् स्वामी मन्मन्तभद्र एक बहुत बड़े तत्त्ववेत्ता आचार्य ने गये हैं जो अपने समयमें वीर शासनकी हजार गुणी वृद्धि करते हुए उन्मत्तको प्राप्त हुए हैं, ऐसा एक पुरातन शिलालेखमें उल्लेख है। तोरहितकी दृष्टिमें उनके विचारोंको प्रचारमें लाकर विश्वमें फैलानकी इस समय बड़ी जरूरत है। इसी दृष्टिको लेकर यह पुस्तक लिखी गई, प्रकाशित की गई और प्रचारकोंके लिए मूल्य भी कम १०) रु. में बड़ा रक्तरा गया है। आशा है सन्मन्तभद्रके विचारों पर तत्त्वज्ञान प्रेमी इस पुस्तकके प्रचार और प्रसारमें गयेष्ट हाथ बटावेंगे और सबसे दूसरे भागोंको भी शीघ्र प्रकाशम लानेका प्रयत्न प्राप्त होगा।

समन्तभद्र-विचार-दीपिका

श्रीवर्द्धमानमभिनम्य समन्तभद्र
सद्बोध चारुचरिता-ऽनघराक्-स्वरूपम् ।
त-ऽऽस्त्र रात्रय-गत भद्रविचार माला
त्र्याग्यामि लोफ हित शान्ति-विषेऽवृद्ध्यै ॥१॥

प्रास्ताविक

उन मंगलपद्यक सात्र जिस विचार दीपिकाका प्रारम्भ किया जाता है वह उन स्वामी समन्तभद्रके विचारोंकी—उद्दीके शास्त्रों परमे लिये गये उनके सिद्धांतसूत्रा, सूत्रों प्रथमा अभिमतांकी—व्याख्या होगी, जो सद्बोधकी मूर्ति थे—जिनके अन्त करणम नेनीयमान विरणाके माय निर्मल ज्ञान मूर्य स्फुरायमान था—सुन्दर मन्त्रागर प्रथमा मन्त्रारित्र ही जिनका एक भूषण था, और जिनका वचनरत्नाप मन्त्र ही निष्पाप तथा वाधारहित था, और इमीलिये जा लोमम श्रीवर्द्धमान थे—वाह्याभ्यंतर दोनों प्रसारकी लक्ष्मीमे-शाभासे वृद्धिका प्राप्त थे—और आज भी जिनके वचनों का सिद्धांत बड़े बड़े विद्वानोंके हृदयोंपर अंकित है ॐ ।

ॐ स्वामी समन्तभद्रका विषय परिचय पाठक लिये देखा, लेखिका लिसा हुमा स्वामी समन्तभद्र' इतिहास तथा मत्माद्यु स्मरण मंगलपाठ वं अन्वयन स्वामि समन्तभद्र स्मरण ।

वास्तवमें स्वामी समन्तमद्रकी जो कुछ भी वचन प्रवृत्ति होती थी वह सब लोकरकी हितकामना—लोकरमें विवेककी जागृति, शांतिकी स्थापना और मुक्त वृद्धिकी शुभभावगाने लिये हुए होती थी। यह व्याख्या भी उसी दृश्यका नेत्र—लोकरमें हितकी, विवेककी और मुक्त शांतिकी एतन्मात्र वृद्धिके लिये—लिखी जाती है। अथवा या कल्पिये कि जगतका स्वामीजीके विचारोंका परिचय कराने और उनसे यथष्ट लाभ उठानेका अत्रमर केनरु लिये ही यह सब कुछ प्रयत्न किया जाता है। मैं इस प्रयत्नमें कदाँतक सफल हो सकूँगा, यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता। स्वामीजीका पवित्र ध्यान, चिन्तन और आराधना ही मर लिये एक आधार होगा—प्रायः वह ही इस विषयमें मरे मुख्य सहायक-मन्दगार अथवा पथप्रदर्शक होंगे।

यह मैं जानता हूँ कि भगवान् समन्तमद्रस्वामीके वचनोंका पूरा रहस्य समझने और उनसे विचारोंका पूरा माहात्म्य प्रकट करनेके लिये व्यक्तित्वरूपमें मैं अममथ हूँ, फिर भी “अशेष माहात्म्यमनीरयन्पि शिवाय संस्पर्शमिवाऽमृताम्बुधे — ‘अमृत समुद्रके अशेष माहात्म्यको न जानते और न स्पर्श करते हुए भी मरका संस्पर्श कल्याणकारक होता है। स्वामीजीकी इस सूक्तिसे अनुसार ही मैंने यह सब प्रयत्न किया है। आशा है शीपिका रूपमें मरों यह व्याख्या आशासे महादयक विचारा और उनके उन्नताने पूरे माहात्म्यको प्रकट करती हुई भी लाभके लिये व्याख्यारूप होगा और इसे स्वामीजीके विचाररूप अमृतसमुद्रका केवल संस्पर्श ही समझा जायगा।



स्व-पर-वैरी कौन ?

स्व पर वैरी—अपना और दूसरोंका शत्रु—कौन ? इस प्रश्नका उत्तर समारम्भ अनेक प्रकारसे दिया जाता है और दिया जा सकता है । उदाहरणके लिये—

१ स्वपरवरा वह है जो अपने बालकाका शिक्षा नहीं देता, जिससे उनका जीवन खराब होता है, और उनके जीवनका प्रभावसे उसका भाँ दुःख-कष्ट उठाना पड़ता है, अपमान-तिरस्कार भोगना पड़ता है और सम्पत्तिके लाभोंसे भी वंचित रहना होता है ।

२ स्वपरवैरी वह है जो अपने बच्चोंकी छोटी उम्रम शादी करता है, जिससे उनकी शिक्षाम बाधा पड़ती है और वे सदा ही दुर्बल, रोगी तथा पुरुषार्थहीन—उत्साहविहीन बने रहते हैं अथवा अशक्त ही फालने गालम चले जाते हैं । और उनकी इन अवस्थाओंसे उसको भी बराबर दुःख-कष्ट भोगना पड़ता है ।

३ स्वपरवैरी वह है जो धनका ठीक साधन पासमें न होने पर भी प्रमान्तिके बशीभूत हुआ राजगार धंधा छोड़ बैठता है—कुटुम्बके प्रति अपनी जिम्मेदारीको मुलाकर आजीवनिके लिये कोई पुरुषार्थ नहीं करना, और इस तरह अपनेको चिन्ताओंमें डालकर दुःखित रखता है और अपने आश्रितजनों—बालकों आदिको भी, उनकी आवश्यकताएँ पूरी न करके, सन्तमें डालना तथा कष्ट पहुँचाना है ।

४ स्वपरवैरी वह है जो हिंसा, भूठ, चोरी, कुशीलादि दुःकर्म करता है, क्योंकि जेमे आचरणके द्वारा वह दूसरोंको ही कष्ट तथा हानि नहीं पहुँचाता बल्कि अपने आत्माको भी पतित करता है

और पापोंसे बाँधता है, जिनका दुखनाई अशुभ फल उसे, जन्म अथवा अगले जन्ममें भोगना पड़ता है।

इसी तरहके और भी बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं परन्तु स्वामी समात्मद्र इस प्रश्न पर एक नमरे ही ढंगसे विचार करते हैं और वह ऐसा व्यापक विचार है जिसमें दूसरे सब विचार समा जाते हैं। आपकी इष्टिम वे सभी जन स्व पर बैठे हैं जो एकान्तप्रहरण हैं (एकान्तप्रहरण स्वपरवैरिण)। अर्थात् जो लोग एकान्तके ग्रहणमें आसक्त हैं—सर्वथा एकान्त पक्षके पक्षपाती अथवा उपामक हैं—और अनेकान्तकी नहीं मानते—वस्तुमें अनेक गुण धर्मोंसे होने हुए भी उस एक ही गुण धर्मरूप अंगीकार करते हैं व अपने और परके वैरी हैं। आपका यह विचार वैवागमरी निम्नकारिजाने 'एकान्तप्रहरण' 'स्वपर वैरिण' इन दो पदों परमे उपलब्ध होता है—

दुःशलाऽकुशल कर्म परलाकश्च न कश्चिन् ।

एकान्त ग्रह रक्तोपु नाथ ! स्व पर वैरिणु ॥ ८ ॥

इस कारिजाम इतना और भी बतलाया गया है कि एकान्त मान्यतानाले व्यक्तियोंमेंसे किसीके बड़ा भा—स्त्रीके मतमें—शुभ-अशुभ कर्मकी, अथ जन्मकी और 'चकार से' जन्मकी, कर्मफलकी तथा जन्म मोक्षान्तिकी कोई व्यवस्था न बन सकती। और यह सब इस कारिजाम सामान्य अर्थ है विशेष अर्थकी इष्टिसे इसमें सावेतिरूपमें या भी सतिष्ठित कि ऐसे एकान्त पक्षपातीजन स्वपरवैरी कैसे ह और क्याकर के शुभऽशुभकर्मों, लोक परलोक तथा जन्म मोक्षान्तिकी व्यवस्था नहीं बन सकती। इस अर्थको अष्टराहस्यी-जैन टीका प्रथमे कुछ विस्तारके साथ ग्योला गया है। बाकी एकान्तवादियों मुख्य मुख्य कौटिल्याका वर्णन करते हुए उनके मिथ्याताको बुरि

ठहरा कर उन्हें स्व पर-वैरी सिद्ध करन और अनेकातको स्व-पर-द्वित्तारी सम्यक् मिद्धातके रूपम प्रतिष्ठित करनेका कार्य स्वयं स्वामी समतभद्रेने प्रथमी अगली कारिनाओंमें मूर्खरूपमें किया है। प्रथमी कुल कारिनाओं (गताक) ११४ हैं, जिनपर आचार्य श्रीअरुल्लङ्गेयने 'अष्टशती नामकी आठसौं ग्लान जितनी वृत्ति लिखी है, जो बहुत ही गूट सुत्रोंमें है, और फिर इस वृत्तिको साथ म लेकर श्रीविद्यानन्दाचार्यने 'अष्टसहस्री' टीका लिखी है, जो आठ हजार श्लोक परिमाण है और जिसम मूलग्रन्थके आशयको खोलनका भारा प्रयत्न किया गया है। यह अष्टसहस्री भी बहुत कठिन है, इसके कठिन पदोंको समझनेके लिये इसपर आठ हजार श्लोक जितना एक सम्भूत टिप्पण भी बना हुआ है, फिर भी अपने विषयको पूरी तौरसे समझनेके लिये यह अभीतर 'अष्टसहस्री ही बनी हुई है। और शायद यही वजह है कि इसका अर्थ तक हिन्दी अनुबाद नहीं हो सका। ऐसी हालतम पाठक समझ सकते हैं कि स्वामी समतभद्रका मूल दिवागम ग्रन्थ जितना अधिक अर्थगौरवको लिये हुआ है। अरुल्लङ्गेयने तो उसे 'सम्पूर्ण पदार्थतत्त्वोंको अपना विषय करनेवाला स्याद्वाचरूपी पुण्योक्तिनीर्थ लिखा है। इस लिये मेरे जैसे अन्वयों-द्वारा समतभद्रके विचारानी व्याख्या उनको स्पर्श करनके मिनाय और क्या हो सकती है? इसीम मेरा यह प्रयत्न भा साधारण पाठकोंके लिये है—विशेषनोंके लिये नहीं। अस्तु, इस ग्रामगिक निवेदनके बाद अन्त में पुन प्रकृत विषय पर आता हूँ और उसको सक्षेपमें ही साधारण जनताके लिये कुछ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

वास्तवमें प्रत्येक वस्तु अनेकातात्मक है—उसमें अनेक अन्तर्धर्म, गुण स्वभाव अग अथवा अंश हैं। जो मनुष्य किसी भी वस्तुको एक तरफसे देखता है—उसके एक ही अन्त-धर्म अथवा गुण-स्वभाव पर नष्टि डालता है—वह उसका सम्यग्द्रष्टा (उसे

ठीक वीरसे देखने-पढ़िगाननेवाला) नहीं कहला सकता। सम्याद्रष्टा होनेके लिये उसे उस वस्तुको सब ओरसे देखना चाहिये और उसके सब अंशों, अंगों-धर्मों अथवा स्वभावा पर नजर डालनी चाहिये। सिक्केके एक ही मुद्राको देखकर सिक्केका निर्णय करनेवाला उस सिक्केको दूसरे सुभ्रम पक्ष देखकर वह सिक्का नहीं समझता और इस लिय धारणा साता है। इसीसे अनेकान्तदृष्टि का सम्याद्रष्टि और एकान्तदृष्टि का मिथ्याद्रष्टि कहा है ॥३॥

जो मनुष्य किसी वस्तुके एक ही अंश, अंग, धर्म अथवा गुण स्वभावको देखकर उसे उस ही स्वरूप मानता है—दूसरे रूप स्वीकार नहीं करता—और इस तरह अपनी एकान्त धारणा बना लेता है और उस ही जैसे तमके गुण्ट किया करता है, उसको 'एकान्त प्रहरण', एकान्तपक्षगता अथवा सर्वथा एकान्तवादी कहते हैं। ऐसे मनुष्य हाथीके स्वरूपका विधान करनेवाले जमाघ पुरुषोंकी तरह आपसमें लड़ने मगड़ते हैं और एक दूसरेके शत्रुता धारण करके जहाँ परके वैसी बातें हैं वहाँ अपनेको हाथीके विषयमें अज्ञानी रखकर अपना भी अहित साधन करनेवाले तथा कभी भी हाथीमें हाथीका काम लेनेमें समर्थ न हो सकने वाले उन जमाघोंकी तरह, अपनेको वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ रखकर अपना भी अहित साधन करते हैं और अपनी मान्यताको छोड़े अथवा उसकी उपेक्षा किये बिना कभी भी उस वस्तुस उस वस्तु का ठीक काम लेनेमें समर्थ नहीं हो सकने, और ठीक काम लेनेके लिये मान्यताको छोड़ने अथवा उसकी उपेक्षा करनेपर स्वसिद्धान्त

॥ अतन्तान्तामदृष्टिना सता न यो विषयय ।

तत सध मृषोक्त स्यात्तन्वक्त स्वधातन ॥

—स्वयम्भूमनोत्र समन्तमन्त्र

विरोधी ठहरते हैं, इस तरह दोनों ही प्रकारसे वे अपने भी वैरी होते हैं। नीचे एक उदाहरण द्वारा हम बातों और भी स्पष्ट करके बतलाया जाता है—

एक मनुष्य किसी वैद्यको एक रोगीपर कुचलेका प्रयाग करता हुआ देखता है और यह कहते हुए भी मुनता है कि 'कुचला जीवन्मृता है, रोगको नशाता है और जीवनी शक्तिको नशाता है। साथ ही, वह यह भी अनुभव करता है कि वह रोगी कुचल के स्वानेस अन्धा तटुस्त तथा हृष्टपुष्ट हांगया। इस परम वद अपनी यह एकांत धारणा बना लेता है कि 'कुचला जीवन्मृता है, रोग नशाता है और जीवनी शक्तिको नशाकर मनुष्यको हृष्ट पुष्ट बनाता है।' हमें मालूम नहीं कि कुचलेमें मारनेका—जीवन को नष्ट कर देनेका—भी गुण है, और उमका प्रयोग मर रोगी तथा मर अन्धधाराओं समानरूपसे नहीं किया जा सकता, न हम मारकी ठीक खबर है, और न यही पता है कि वह वैद्य भी कुचलके दूसरे मारकगुणसे परिचित था, और इस लिये जब वह उसे जीवनी शक्तिको बचानेके काममें लाता था तब वह दूसरा न्यायोंके साथमें उसका प्रयाग करके उमकी मारक शक्तिको न्या देता या शकना उसे उन जावजंतुओंके घातके काममें लेता था जो रोगीके शरीरमें जीवनी शक्तिका नष्ट कर रहे हों। और इस लिये वह मनुष्य अपनी उस एकांत धारणाके अनुसार अनर रोगियोंका कुचला देता है तथा जल्दी अन्धा करनेकी धुनमें अधिक मात्रामें भी न देता है। नतीजा यह होता है कि ये रोगी मर जाते हैं या अधिक कष्ट तथा बचना ठाते हैं और वह मनुष्य कुचलेका ठीक प्रयोग न जानकर उसका मिथ्या प्रयोग करनेके कारण नष्ट पाता है, तथा कभी स्वयं कुचला खाकर अपनी प्राणहानि भी कर डालता है। इस तरह कुचलेके विषयमें एकांत आप्रण रखनेवाला जिस प्रकार स्व पर वैरी होता है उसी

प्रकार दूसरी वस्तुओंके विषयमें भी ऐसा नष्ट पड़ने वालोंमें स्व पर धैरी सभगता चाहिये ।

मर पृथिव्ये तो जा अनेकानके द्वेषी हैं व अथपन अन्तके भी द्वेषी है क्योंकि अनन्तक विना ये अन्तको प्रतिष्ठित नहीं कर सकते—अनन्तर विना अन्तका अस्तित्व उमी तरह नहीं बन सकता जिस तरह कि सामान्यके विना विशेषता या द्रव्यके विना पर्यायका अस्तित्व नहीं जाता । सामान्य और विशेष, अस्तित्व और नास्तित्व तथा नित्यत्व और अनित्यत्व अर्थात् जिस प्रकार परस्परम अविनाभाव सम्बन्धको लिये हुए हैं—अन्तके विना दूसरका अस्तित्व नहीं बनता—उसी प्रकार अन्त और अनन्तम भी परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है । ये सब सप्रतिपक्षमें एक ही वस्तुमें परस्पर अपेक्षाओं का लिये हुए होते हैं । उदाहरणके तौरपर अनामिका अंगुली छोटी भी है और बड़ी भी—कनिष्ठाम वह बड़ा है और मध्यमाम छोटी है । इस तरह अनामिका में छोटापन और बड़ापन दोनों धर्म सापेक्ष हैं, अथवा छोटा है और छोटी नहीं है ऐसा छोटेपानके अस्तित्व और नास्तित्व रूप का अविनाभावी धर्म भी उसमें सापेक्षरूपमें पाये जाते हैं—अपेक्षाका लक्षणके तौरपर दोनोंमसे जो जो धर्म नहीं बनता । उसी प्रकार नदीके प्रत्येक तटमें एक पारपन और एक पारपनके दोनों धर्म होते हैं और वे सापेक्ष होकर ही अविनाभरूप रहते हैं ।

जो धर्म एक ही वस्तुमें परस्पर अपेक्षाओं लिये हुए होने हैं व अपने और दूसरेके उपकारी (मित्र) होते हैं और अपनी तथा दूसरेकी सत्ताको बनाये रहते हैं । और जो धर्म परस्पर अपेक्षाओं लिये हुए नहीं होते वे अपने और दूसरेके उपकारी (शत्रु) होते हैं—स्व पर प्रणयन होते हैं, और इसलिये न अपनी सत्ताको कायम रख सकते हैं और न दूसरेकी । इसीमें स्वामी समन्तभद्रने अपने स्वयम्भूतोत्तम भी—

“मिथोऽनपत्ता स्व पर-प्रणाशिनः”

“परस्परैश्चा म्व परीपरारिणः”

इन वाक्योंक द्वारा इसी सिद्धान्तकी स्पष्ट धारणा की है । आप निरपत्तनयोंका मिथ्या और सापेक्षनयोंको सम्यक् समझना है । आपका विचारसे निरपेक्षनयोंका विषय अर्थविचारसारी न होने न अयम्बु है और सापेक्षनयाना विषय अथवा (प्रयाजनसाधन) होनेसे यम्बुतत्त्व है ॥ इस विषयकी विशेष चर्चा अब व्याख्या इसी विचारशीलपिण्डम अन्यत्र की जायगी । यहाँपर सिर्फ इतना ही जान लेना चाहिये कि निरपेक्षनयोंका विषय मिथ्या एतान और सापेक्षनयोंका विषय सम्यक् एतान है । और यह सम्यक् एतान ही प्रस्तुत अनयान्तक साथ अविनाभावसम्बन्धको नियत हुए हैं । जो मिथ्या एतानसे व्यापक हात है उन्हे ही 'एतान् प्रत्यक्ष कहा गया है वे ही 'सर्वथा एतान्प्रती वदन्तो है और उन्हे ही यहाँ 'स्वपरवैरी' समझना चाहिये । जो सम्यक् एतानके व्यापक होते हैं उन्हे एतान्प्रत्यक्ष' नहीं कहा उनका नेता म्यात पर होता है, वे 'म एतानको नष्टित्त्वमे स्वीकार करत हैं अन्तिरे उमम मरया आत्मत्त ही होते और वे प्रतिपत्त धर्मका विरोध अथवा निराकरण ही करत हैं—सापेक्षनयाना विचारक समय प्रतिपत्त धर्मकी अपेक्षा वे होनेसे उनके प्रति एक प्रकारकी 'पेक्षा तो होती है किन्तु उसका विरोध अथवा निराकरण नहीं होता । और इसीसे यह 'स्व पर-वैरी' नहीं कहा जा सके । अतः स्वामी समतभद्रना यह कहना विचलनीय है कि 'जो एतान्प्रत्यक्ष होने हैं वे स्वपरवैरी होते हैं ।'

अब देखना यह है कि कैसे स्वपरवैरी एतान्प्रतिषेध मतमें शुभ अशुभ-वर्म, कर्मफल, सुख-दुःख जन्म-जन्मान्तर (लोक

परलोक) और व प्र मोक्षादि की व्यवस्था कैसे नहीं बन सकती । वात विद्वुल स्पष्ट है, ये सब अवस्थाएँ चूँकि अनेकान्ताश्रित हैं—अनेकान्तने आश्रय बिना उन परस्पर विरुद्ध मालूम पड़ने वाली सापेक्ष अवस्थाआधी कीड स्वतंत्र सत्ता अथवा व्यवस्था नहीं बन सकती—, इसलिये जो अनकातने वैरी हैं—अनेकान्त सिद्धांतमें द्वेष रखते हैं—उनमें यहाँ ये सब व्यवस्थाएँ सुघटित नहीं हो सकती । अनकातक प्रतिपेक्षमें क्रम अक्रमका प्रतिपक्ष हो जाता है, क्योंकि क्रम अक्रमकी अनकातके साथ व्याप्ति है । जब अनकात ही नहीं तब क्रम अक्रमकी व्यवस्था कैसे बन सकती है? अर्थात् द्रव्यके अभावमें जिस प्रकार गुण पयायना और वृक्षके अभावमें शीशम, जामन, नाम, आम्बान्की कोई व्यवस्था नहीं बन सकता उसी प्रकार अनकातके अभावमें क्रम अक्रमकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती । क्रम अक्रमकी व्यवस्था न बननेसे अर्थक्रियाका निषेध हो जाता है क्योंकि अर्थक्रियाकी क्रम अक्रम के साथ व्याप्ति है । और अर्थक्रियाके अभावमें कर्मात्मिक नहीं बन सकती—कर्मात्मिकी अर्थक्रियाने साथ व्याप्ति है । जब शुभ अशुभ कर्म ही नहीं बन सकते तब उनका फल सुख दुःख, फल भागना क्षेत्र जन्म जन्मांतर (लोक परलोक) और कर्मात्त वैश्व तथा छूटनेका बात तो कैसे बन सकती है ? साधारण यह कि अनेकान्तक आश्रय बिना ये सब शुभाऽशुभ कर्मादिक निराश्रित होजाते हैं, और इसलिये सर्वथा निर्यात्त एकांतवान्छियोंक मतमें इनकी कोई ठाँव व्यवस्था नहीं बन सकती । वे यत्नि नहीं मानते हैं और तपःचरणान्छिक अनुष्ठान द्वारा सर्वकर्मात्त अजा करके उनका मत्फल लेना चाहते हैं अथवा कर्मसे मुक्त होना चाहते हैं तो वे अपने इस दृष्टिको अनकातका विरोध करके बाधा पहुँचाने हैं और कर्म नरह भी अपनेको स्व पर वैरी मिद्ध करते हैं ।

वस्तुतः अनेकान्त, भाव अभाव नित्य अनित्य भेद अभेद आदि एकात्मयोग्य विरोधको मिटाने, वस्तुतत्त्वकी सम्यक् व्यवस्था करनेवाला है, इसीसे लोक व्यवहारका सम्यक् प्रवर्तक है—बिना अनेकान्तका आशय लिये लोकका व्यवहार ठीक बनता ही नहीं, और न परम्पराका वीर विरोध ही मिट सकता है। इसीलिये अनेकान्तको परमागमका बीज और लोकका अद्वितीय गुरु कहा गया है—वह मनोंके लिये समार्ग प्रवर्तक है ॥ जीनी नीतिका भी घड़ी मूलाधार है। जो लोग अनेकान्तका मन्मथ आशय लेते हैं वे कभी स्व पर-वैरी नहीं होते, उनसे पाप नहीं बनते, यह आपत्तएँ नहीं सताती, और वे लोकम सदा ही स्वतन्त्र तथा जयगील बने रहते हैं।

२

वीतरागकी पूजा क्यों ?

जिसकी पूजा की जाती है वह यदि उस पूजामे प्रसन्न होता है, और प्रसन्नताके फलस्वरूप पूजा करनेवालेका कोई काम बना देता अथवा सुधार देता है तो लोकमें उसकी पूजा सार्थक समझी जाती है। और पूजामे किसीका प्रसन्न होना भी तभी कहा जा सकता है जब या तो वह उसने बिना अप्रसन्न रहना हो, या उससे उसकी प्रसन्नताम बुद्धि वृद्धि होती हो अथवा उसने उसको कोई दूसरे प्रकारका लाभ पहुँचता हो, परन्तु वीतरागत्वके विषय में यह सब कुछ भी नहीं कहा जा सकता—वे न किसीपर प्रसन्न होते हैं, न अप्रसन्न और न किसी प्रकारकी कोई इच्छा ही रखते हैं, जिसकी पूजा-प्रपूतिपर उनकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता निर्भर

॥ नात विरोध एता ताव्यवहारवतन सम्यक् ।

परमागमस्य बीज भुवनत्रयुग्जयत्यनेकान्त ॥

हा। वे सदा ही पण्ड प्रमत्त रहते हैं—उनकी प्रमत्ततामें किसी भी कारणसे कोड़ कमी या वृद्धि नहीं हो सकती। और जब पूजा अपूजासे भीतरागवैचरी प्रमत्तता या अप्रमत्तता का कोई सम्बन्ध नहीं—बहु उमरेद्वारा सम्भाव्य ही नहीं—तब यह तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता कि पूजा कम की जाय, कम कल जाय, कि द्रव्योपयोग की जाय, कि न मंत्रोंमें पा जाय और कम कौन करे—कौन न करे? और न यह शंका ही की जा सकती है कि अनिधि में पूजा करनेपर कोई अनिष्ट पतित हो जायगा, अथवा किमा अधर्मे-अशोभन-अत्यायन मनुष्यके पूजा कर लेनेपर वह स्व नाराज हो जायगा और उसकी पारायणता कम मनुष्य तथा समूचे समाजका किमा ईश्वर कापरा भाग्य बनाना पडगा, क्योंकि कमी शंका करनेपर वह स्व भीतराग ही नहीं टरगा—उमरे भीतराग होनेसे इनकार करना होगा और उसे भी दूसरे देवी-देवताओंकी तरह समी द्वेषी मानना पडगा। इसीमें अस्मर लोग जैतियाम क्या करा है कि—जब तुम्हारा स्व परम भीतराग है, उमे पूजा-उपासनाकी कां चस्त्रा नहीं, कता-दुर्ता न होनेसे वह किसीका कुछ भेदा लना भी नहीं, तब उतनी पूजा-वन्दना क्या की जाती है और उसमें क्या कताजा है?

इस मंत्र जानोंको लक्ष्यम स्वरर स्यामी सात्त्विक, तब कि भीतरागवैचारी मंत्रसे अधिक पूजाके योग्य समझना और स्वयं भी अन्तः स्तुति स्तोत्रा आदिके द्वारा उतनी पूजाम सदा सात्त्विक एवं तपर लते है, अपने स्वयंमूलात्त म विरहिते है

न पूजार्थस्त्रयि भीतरागे न निन्दया नाथ विमान्त-परै ।
तथापि त पण्य गुण स्मृतिर्न पृथानि चित्त दृष्टिताञ्जनम् ॥

अर्थात्—ह भगवत् पूजा वन्दनाम आपरा का प्रशंजन नहीं है, क्योंकि आप भीतरागी है—रागका अंश भी आप

आत्मा में विद्यमान नहीं है, जिसके कारण त्रिसूत्री पूजा बन्दना से आप प्रमत्त होते। इसी तरह निन्दासे भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है—कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उस पर आपको बुरा भी जोभ नहीं आसकता, क्योंकि आपको आत्मासे वैरभाव-द्वेषाश बिलकुल निकल गया है—यह उसमें विद्यमान ही नहीं है—जिसमें जोभ तथा अप्रसन्नता का कार्योत्पन्न उद्भव हो सकता। ऐसी हालतमें निन्दा और स्तुति दोनों ही आपसे लिये समान हैं—उनसे अपना कुछ भी बनता या विगड़ता नहीं है। यह सब ठीक है, परन्तु फिर भी हम जो आपकी पूजा करना चाहते हैं उसका दृमरा ही कारण है, यह पूजा बन्दना से आपसे लिये नहीं—आपको प्रसन्न करके आपकी कृपा सम्पादन करना या हमसे द्वारा आपका कोई लाभ पहुँचाना, यह सब उसमें ध्येय ही नहीं है। उसका ध्येय है आपके पुण्य गुणोंका स्मरण—भावपूर्वक अनुचितन—, जो हमारे चित्तमें—निद्रूप आत्माको—पापमलोंमें लुड़ाकर निर्मल एवं पवित्र बनाता है, और उस तरह हम उसका द्वारा अपने आत्माने विकासकी माधना करते हैं। इसीमें पहले उत्तरागमें यह मैद्वातिका घोषणा की गई है कि 'आपका पुण्य गुणोंका स्मरण हमारे पापमलस मलिन आत्मानो निर्मल करता है—उसके विकासमें नानुच मना कर होता है।

यहाँ बोधराग भगवान्के पुण्य गुणोंके स्मरणमें पापमलमें मलिन आत्माके निर्मल (पवित्र) होनेकी जा बात कही गई है यह कही ही रहस्यपूर्ण है, और उसमें जेनधमके आत्मज्ञान, वसनाद, निरामना और उपासना—जैसे सिद्धांतोंका बहुत कुछ रहस्य सूक्ष्मरूपमें संनिहित है। इस विषयमें मैंने कितना ही स्पष्टीकरण अपनी 'उपासनातन्त्र' और 'सिद्धिमोषा' जैसी पुस्तकोंमें किया है—अथर्वभूमिमें प्रस्तारनाके 'भक्तियोग' और 'स्तुति प्रार्थना' में

रहस्य' नामक प्रकरणसे भी पाठन उसे जान सकते हैं। यहाँपर मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि स्वामी समन्तभद्रने वीतरागदेवक जिन पुण्य गुणोंके स्मरणकी बात कही है वे अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तमृग और अन्तनीयानि आत्माके असाधारण गुण हैं, जो द्रव्यदृष्टिसे मनु आत्माओंके समान होने पर मनुकी समान सम्पत्ति हैं और सभी भव्यगीत यह प्राप्त कर सकते हैं। जिन पापमलोंन उन गुणोंको आच्छादित कर रक्ता है वे ज्ञानावरणानि आठ कम हैं, योगरत्नस जिन महात्माओंने उन कर्ममलोंको दूर करके आत्मगुणोंका पूर्ण विनास किया है वे ही पूर्ण विकसित, सिद्धात्मा एवं वीतराग बन जाते हैं—शेष मनु ममारी जीव अविकसित अथवा अल्पविकसितानि अशाश्रम हैं और वे अपनी आत्मनिर्मिते प्राय भूने हुए हैं। सिद्धात्माओंके विकसित गुणोंपरमे वे आत्मगुणोंका परिचय प्राप्त करते हैं और फिर उनमें अनुराग बढ़ाकर वही साधनों-द्वारा उन गुणोंकी प्राप्ति का यत्न करते हैं तिनके द्वारा उन सिद्धात्माओंने किया था। और इसलिये ये सिद्धात्मा वीतरागदेव आत्म विकासने इच्छुक संनारी आत्माओंके लिये 'आत्मरूप होते हैं, आत्मगुणोंके परिचयानिमित्त सहायक होनेसे उनके 'उपकारी' होते हैं और उस वक्त तक उनके 'आराध्य' रहते हैं जबतक कि उनके आत्मगुण पूर्णरूपसे विकसित न हो जाय। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने "ततः स्यनि त्रयमभायना-परैर्नुधप्रवेर्नैर्निनगीतलेड्यसे (म्व- ५०) इस वाक्यके द्वारा उन बुधजन श्रेष्ठों तनके लिये वीतरागदेवकी पूजाको आवश्यक बतलाया है जो अपने निश्रेयसकी—आत्मविकसनकी—भायनाम सत्ता साधनान् करते हैं। और एक दूसरे पद्य 'स्तुति स्तोत्र साधो (स्व० १८६) में वीतरागदेवकी इस पूजा भक्तिकी कुशलपरिणामों की हेतु बनलाने इसके द्वारा श्रेयोमार्गका मुक्त तथा स्वाधीन होना तक निरता है। साथ ही उसी स्वोत्पन्न नीचेके एक पद्यमें

वे योगबलसे आठों पापमलोंको दूरकरके संसारमें न पाये जाने वाले ऐसे परमसौख्यको प्राप्त हुए सिद्धात्माओं का स्मरण करते हुए अपने लिये तद्रूप होने की स्पष्ट भावना भी करते हैं, जो कि वीतरागदेवकी पूजा-उपासनाका सच्चा रूप है —

दुरितमलरत्नरुमष्टक निरपमयोगरत्नेन निर्दहन् ।

अभयदमन सौख्यवान् भवान्भवतु ममाऽपि भवोपशान्तये॥

स्वामी समन्तभद्रके इन सत्र विचारोंसे यह भले प्रकार स्पष्ट होजाता है कि वीतरागदेवकी उपासना क्यों की जाती है और उसका करना कितना अधिक आवश्यक है ।



३

वीतरागसे प्रार्थना क्यों ?

वीतरागकी पूजाके प्रतिष्ठित होजाने पर अत्र यह प्रश्न पैदा होता है कि जब वीतराग अर्हत्त्वपरम उदासीन एव कृतकृत्य होनेसे कुछ करते धरते नहीं तत्र पूजा उपासनादिके अवसरोंपर उनसे बहुधा प्रार्थनाएँ क्यों कीजाती हैं और क्यों उनमें व्यर्थ ही कर्तृत्व विषयका आरोप किया जाता है ?—जिसे स्वामी समन्त भद्र जैसे महान् आचार्यान् भी अपनाया है । यह प्रश्न बड़ा ही सुन्दर है और समीचे लिये इसका उत्तर वादनीय एवं जाननेके योग्य है । अतः इसीके समाधानका यहाँ प्रयत्न किया जाता है ।

सत्रसे पहली बात इस विषयमें यह जान लेनेकी है कि इच्छा पूर्वक अथवा बुद्धिपूर्वक किसी कामको करनेवाला ही उसका कर्ता नहीं होता बल्कि अनिच्छापूर्वक अथवा अबुद्धिपूर्वक कायका करनेवाला भी कर्ता होता है । वह भी कार्यका कर्ता होता है

जिसमें इच्छा बुद्धि का प्रयोग ही नहीं बल्कि सद्मान (अस्तित्व) भी नहीं अधना किसी समय उमरा सभव मा गही है । ऐसे इच्छाशून्य तथा बुद्धिविहीन कना कार्यने प्राय निमित्तकारण ही होते हैं और प्रत्यक्षरूपम तथा अप्रत्यक्षरूपम उभने कना गड और चेतन नानों ही प्रकारने पन्थ ह्मा करते हैं । इस विषयने सुड उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं, उन पर चरा ध्याग नीजिये -

(१) 'यह न्याड गमुन रोगका हरने वाली है । यहाँ न्याममें कोड इच्छा नहीं और न बुद्धि है, फिर भी यह रोगका हरनेवाली है—रोगहरण कायरी कना कडी जाती है, क्योंकि उमके निमित्तमे रोग दूर होता है ।

(२) 'इस रसायनने प्रमादस मुक्त निरागतारी प्राप्ति हुड । यहा 'रसायन जड औपधियोद्य समूह होनेस एउ जड पदार्थ है, उमम न इच्छा है, न बुद्धि और न कोड प्रमनता, फिर भी एउ रागी प्रमनचिनमे उस रसायनका मेवन करके उमके निमित्तमे आरोग्य लाभ करता है और एउ रसायनम प्रमनताका आरोप करता हुआ उउ वाक्य कहता । यह सन लान्क-व्यवहार है अथवा अलंकारकी भाषानें करनका एउ प्रकार है । अभी तरह यह भी कहा जाता है कि 'मुके इस रसायन या द्यार्ई ने इच्छा कर दिया जन कि उमने बुद्धिपूर्ण या इच्छापूर्ण उसके शरीरम कोड काम नहीं किया । हों उसने निमित्तमे शरीरम रोगागार तथा आरोग्यनर्षक काय बरूर हुआ है और इनलिये यह उमका कार्य कहा जाता है ।

(३) एउ मनुष्य छत्री लिय जा रहा था और दूसरा मनुष्य बिना छत्रीके सामनेसे आ रहा था । सामनेवाले मनुष्यकी दृष्टि जन छत्रीपर पडी तो उम अपनी छत्रीकी याग आगई और यह स्मरण हो आया कि म अपनी छत्री अमुन दुकानपर मूल थाया है, चुनाँचे यह तुरत वहाँ गया और अपनी छत्री ले

आया और आकर कहने लगा—‘तुम्हारी इस छत्रीमा में बहुत आभारी हूँ, इसने मुझे मेरी भूली हुई छत्रीकी याद दिलाई है। यहाँ छत्री एक जडवस्तु है, उसमें धोलनेकी शक्ति नहीं, वह कुछ बोली भी नहीं और न उसने बुद्धिपूर्वक छत्री भूलनेकी वह बात ही सुमाई है, फिर भी चूंकि उसके निमित्तसे भूली हुई छत्रीकी स्मृतिआदिरूप यह सत्र कार्य हुआ है इसीसे अलङ्कृत भाषामें उसका आभार माना गया है।

(४) एक मनुष्य किसी रूपवती स्त्रीको देखते ही उस पर आसक्त हागया, तरह तरह की कल्पनाएँ करके मीराणा बन गया और कर्ण लगा—‘उम स्त्रीने मेरा मन हर लिया, मेरा चित्त चुरा लिया, मेरे ऊपर जादू कर लिया। मुझे पागल बना लिया। अत्र मैं बेकार हूँ और मुझमें उसके चित्त कुछ भी करते धरते नहीं बनता। परन्तु उस बेचारी स्त्रीको इसकी कुछ भी खबर नहीं—किसी बातका पता तक नहीं और न उसने उस पुरुषके प्रति बुद्धिपूर्वक कोई कार्य ही किया है—उस पुरुषने ही कहीं जाते हुए उसे लेव लिया है, फिर भी उस स्त्रीने निमित्तको पाकर उस मनुष्य के आत्म दोषोंको उच्छेजना मिली और उसकी यह सत्र दुर्नशा हुई। इसीसे वह उसका सारा दोष उस स्त्रीने मत्थे मढ़ रहा है, जब कि वह उसमें अज्ञातभावसे एक छोटासा निमित्त-कारण बनी है, बड़ा कारण तो उस मनुष्यका ही आत्मदोष था।

(५) एक दुःखिन और पीडित गरीब मनुष्य एक सन्तके आश्रयमें चला गया और बड़े भक्ति भावसे साथ उस सन्तकी सेवा शुश्रूषा करने लगा। वह सन्त संसार-देह भोगोंमें विरक्त है—वैराग्यसम्पन्न है—किन्नासे कुछ धोलता या फड़ता नहीं—सदा मौनमें रहता है। उस मनुष्यकी अपूर्व भक्तिसे प्रेरित पिछले भक्त लोग सत्र गग रह गये। अपनी भक्तिमें उसकी भक्तिके आगे नगण्य गिनने लगे और बड़े आदर-सत्कारके साथ

उस नयागतुक भक्तहृदय मनुष्यको अपने अपने घर भोजन कराने लगे और उसकी दूसरी भी अनेक आवश्यकताओंकी पूर्ति बड़े प्रेमके साथ करने लगे, जिससे वह सुरसे अपना जीवन व्यतीत करने लगा और उमरा भक्ति भाव और भी तिन पर दिन बढ़ने लगा। कभी कभी वह भक्तिम विह्वल होकर सतके चरणोंम गिर पड़ता और बड़े ही कम्पित स्वरम गिडगिडाता हुआ कहने लगता— हे नाथ ! आप ही मुम तीन हीनके रक्षक हैं, आप ही मेरे अभ्रदाता हैं, आपने मुके यह भोजन दिया है जिससे मेरी जाम जमान्तरकी भ्रम भिट ग' है। आपके चरण-शरणमें आनेसे ही मैं सुरी बन गया हूँ, आपने मेरे सारे दुःख मिटा दिये हैं और मुके यह ऋष्टि प्रदान वा है जिममे मैं अपने को और जगत्को भले प्रकार ढेर मरता हूँ। अब न्यायर इतना अनुग्रह और कीजिये कि मैं जल्दी ही इस संसारके पार हो जाऊँ। यहाँ भक्त द्वारा सन्तक विषयम जो कुछ कहा गया है वैसा उस सतने स्नेहसे कुछ भी नहीं किया। उमने तो भक्तके भोजनात्की व्यवस्थाके लिये किसीस मनेन तफ भी नहीं किया और न अपने भोजनमसे कभी कोई प्रास ही उठार उमे दिया है, फिर भी उसने भोजनात्की सन व्यवस्था होगइ। दूसरे भक्त जन स्वय ही बिना किसीकी प्रेरणाके उसने भोजनात्की सुव्यवस्था करनम प्रवृत्त होगये और वैसा करके अपना अहोभाग्य ममभन लग। इन्ही तरह सतन उस भक्तको लक्ष्य करके कोई खास उपदेश भी नहीं दिया फिर भी वह भक्त उम सतकी तिन-च्या और अवाग्निसर्ग (मौनापदेशरूप) मुख मुद्रादिन परसे म्बय ही उपदेश ग्रहण करता रहा और प्रनोरको प्राप्त होगया। परंतु यह मन उत्र घटित होनम उस सत पुरुषना व्यनित्त ही प्रधान निमित्त कारण रहा है—भले ही यह कितना ही उदासीन म्यो न हो। इसीमे भक्त द्वारा उसना सारा श्रेय त्त सतपुरप

को ही लिया गया ।

इन मंत्र उदाहरणों परसे यह बात महज ही समझना आ जाती है कि किसी कार्यका क्या या कारण होनेके लिये यह लाजिमी (अनिवार्य) अथवा जरूरी नहीं है कि उसके साथम इच्छा, बुद्धि तथा प्रेरणात्मिक भी हों, वह उसका विना भी हो सकता है और होता है । साथ ही, यह भी स्पष्ट होजाता है कि किसी वस्तुको अपने हाथसे उठाने देने या किसीको उससे देने की प्रेरणा करके अथवा आदेश देकर नित्ता नेतस ही कोई मनुष्य गता नहीं होता बल्कि ऐसा न करते हुए भी दाता होता है जब कि उसने निमित्तम, प्रभावसे आश्रयमें रहनेसे, सम्पर्कमें आनमे, कारणका कारण बननेसे कोई वस्तु किसीको प्राप्त होजाती है । ऐसी स्थितिमें परमवीतराग श्रीअर्हन्ता-ल्लियोंमें कर्तृत्वानि विषयका आरोप व्यर्थ नहीं कहा जा सकता-मले ही वे अपने हाथसे मीरा किसीका कोई कार्य न करने हों, मोहनीय कर्मने अभावसे उनमें इच्छाका अस्तित्व तब न हो और न किसीको उन कार्यकी प्रेरणा या आज्ञा देना ही उम्मे बनता हो, क्योंकि उनका पुण्यस्मरण, चिन्तन, पूजन, भजना, कीर्तन, स्तवन और आराधनमें जब पापकर्मोंका नाश होता है, पुण्यकी वृद्धि और आत्मानो विशुद्धि होती है—जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है—तब फिर कौन कार्य है जो अटका रह जाय? सभी कार्य सिद्धिमें प्राप्त होते हैं, भक्तजनोंकी मनोमामनाएँ पूरी होती हैं और इसलिये उन्हें यही करना पडता है कि 'हे भगवन् । आपने प्रसात्में मेरा यह कार्य सिद्ध होगया ।, जैसे कि रसायन के प्रसात्में आरोग्यका प्राप्त होना कहा जाता है । रसायन औषधि जिस प्रकार अपना मेहनत करने वालोंपर प्रमत्त नहीं होती और

० 'पुण्यप्रभावान कि कि न भवति' — 'पुण्यके प्रभावसे क्या-क्या नहीं होता एमी नाशकात्त नी प्रविद्ध है ।

न इच्छापूर्वक उसका कोढ़ कार्य ही सिद्ध करती है वही तरह वीतराग भगवान् भी अपने मेत्र पर प्रसन्न नहीं होते और न प्रसन्नताके फलस्वरूप इच्छापूर्वक उसका कोढ़ कार्य सिद्ध करनेका प्रयत्न ही करते हैं। प्रसन्नताप्रचक्र सेवन आराधनके कारण ही दोनोंमें—रसायन और वीतरागप्रेम—प्रसन्नताका आरोप किया जाता है और यह अलङ्कन भाषाका कथन है। अथवा दोनोंका वायवस्तुस्वभावके वशवर्ती, संयोगोंकी अनुकूलताके लिये हुए, स्वतः होता है—उसमें किसीकी इच्छा अथवा प्रसन्नताकी कोई बात नहीं है।

यहां पर कर्मसिद्धांतकी दृष्टिमें एक बात और प्रकट कर देने की है और वह यह कि, मसारी जीव मनमें, वचनसे व वायसे जो क्रिया करता है उसमें आत्माका कम्पन (हलन चलन) होकर द्रव्यकर्मरूप परिणत हुए पुद्गल परमाणुओंका आत्म प्रवेश होता है, जिसे 'आस्रय' कहते हैं। मन वचन मायकी यह क्रिया यदि शुभ होती है तो उससे शुभकर्मका और अशुभ होती है तो अशुभ कर्मका आस्रय होता है। तन्नुसार ही वाय होता है। इस तरह कर्म शुभ अशुभके भेदसे दो भागोंमें बँटा रहता है। शुभ कार्य करनेकी जिसमें प्रवृत्ति (स्वभाव शीलता) होती है उसे शुभकर्म अथवा पुण्यप्रवृत्ति और अशुभ कार्य करनेकी जिसमें प्रवृत्ति होती है उसे अशुभकर्म अथवा पापप्रवृत्ति कहते हैं। शुभाशुभ भावोंकी तरतमता और कषायान्ति परिमाणोंकी तीव्रता मद्धतादिके कारण इन कर्मप्रवृत्तियोंमें बराबर परिणतन (उलटफेर) अथवा मक्रमण हुआ करता है। जिस समय जिस प्रकारका कर्मप्रवृत्तियोंके उन्मत्तका प्राप्रलथ होता है उस समय वाय प्राय उहीके अनुरूप निष्पन्न होता है। वीतरागप्रेमकी उपासनाके समय उनके पुण्यगुणाना प्रेम पूर्वक स्मरण एवं चिन्तन करने और मनम अनुराग उदानेसे शुभ भावों (कुशलपरिणामों) की उत्पत्ति होती है, जिससे इस मनुष्य-

की पापपरिणति घूटती और पुण्यपरिणति उमड़ा स्थान लेती है। नतीजा इसका यह होता है कि हमारी पापप्रवृत्तियोंका रस (स्वु-माग) सूखता और पुण्यप्रवृत्तियोंका रस बढ़ता है। पापप्रवृत्तियोंका रस सूखने और पुण्यप्रवृत्तियोंका रस बढ़नेमें 'ध्यान' नामकी प्रवृत्ति, जो कि एक मूल पापप्रवृत्ति है और इसके लालच, भोग, उपभोग और वीर्य (शक्ति-बल) में दिग्भ्रम उत्पन्न करती है—बढ़ने नहीं देती—यह भग्नरस होकर लोभ का जाती है और हमारे मूठ कार्योंका बाधा पहुँचानेमें काम आती है। तब हमारे बहुतसे लौकिक प्रयोजन अनाश्रित हो जाते हैं, विगड हुए काम भी सुरर जाने हैं और सब प्रयत्न श्रेय ऋक्त उपासनासे ही प्राप्त होना है। इसीमें सुखी-सुखी इष्टफलकी प्राप्ति करना है, जैसा कि तत्कार्यप्रवृत्तियोंके उद्घृत एक आचार्य मणो-यके निम्न वाक्यमें प्रकृत है—

नेष्ट विहन्तु शुभभाव-भग्न-रमप्रकर्षं
 तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिगिष्टार्थं

जब भले प्रकार सम्पन्न हुए स्तुति वन्दना आदि प्रवृत्तियोंका दन्तमाल है और वीतरागत्वमें कर्तव्य-प्रवृत्तियोंका सर्वथा असंगत तथा व्यर्थ नहीं है, बल्कि इन प्रवृत्तियोंमें संगत और सुचरित है—यद्यपि स्वच्छा बुद्धि-बल ही सुखमें कला न होत हुए भी निमित्तादिकी दृष्टिसिद्धि ही ही इसलिये डाकें विषयम अकतापनवा सर्वथा असंगत नहीं होता, तब उनमें तद्विषयक अथवा अन्य प्रवृत्तियोंका बिल जाना भी असंगत नहीं कहा जा सकता है—यद्यपि तब शरणम आनेस स्वयं सफल होजाती है—यद्यपि तब तब के द्वारा सहज-माध्य होती है।

इस विषयमें स्वामी समन्तभद्रना स्वयंभूस्तोत्रगत निम्न वाक्य राम तीरस ध्यानमें लेने योग्य है—

स्वदोष-शान्त्या विहितात्म शान्ति
 शान्तोविधाता शरण गतानाम् ।
 भयाद्भय क्लेश भयोपशान्त्यै
 शान्तिनिनो मे भगवान् शरण्य ॥

इसमें बतलाया है कि वे 'भगवान् शान्तिजित मेरे शरण्य हैं—
 मैं उनकी शरण लता हूँ—जिन्होंने अपने गेपोंकी—अज्ञान, मोह
 तथा राग द्वेष, काम प्रीत्यादि विहारोंकी शान्ति करके आत्मामें
 परमशांति स्थापित की है—पूर्ण सुख-स्वरूप स्वाभाविकी श्रुति
 प्राप्त की है—और इमलिये जो शरणागतोंको शान्तिके विधाता हैं
 —उनमें अपने आत्मप्रभावसे दापानी शान्ति करके शान्ति-सुरमा
 संचार करने अथवा उक्त शांति-सुखपर परिणत करनेमें सहायक
 एवं निमित्तभूत है। अतः (इस शरणागतिके कलस्वरूप) शांति
 जित मेरे ससार परिभ्रमणका अन्त और सासारिक क्लेशों तथा
 भयोंकी समाप्तिमें कारणभूत हाथ ।'

यह शान्ति जितको शरणागताकी शान्तिका जो विधाता
 (कता) कहा है उसमें लिये अन्तमिमी इच्छा या तदनुकूल प्रयत्न
 के आरोप की जरूरत नहीं है, यह कार्य उनके 'विहितात्मशान्ति
 होनेसे स्वयं ही उस प्रकार हाजाता है जिस प्रकार कि अग्नि
 पास जानेसे गर्मीका और दिमालय या शीतप्रधान प्रदेशके पास
 पहुँचनेसे सर्दीका संचार अथवा तद्रूप परिणमन स्वयं हुआ करता
 है और उसमें उस अग्नि या दिममय पदार्थकी इच्छादिक जैसा
 कोई कारण नहीं पड़ता। इच्छा तो स्वयं एक दोष है और वह
 उस मोहका परिणाम है जिसे स्वयं स्वामीजीने उक्त स्तोत्रमें
 'अन्तदोषाशयविग्रह (६६) बतलाया है। गेपोंकी शांति

होजानेसे उसका अस्तित्व ही नहीं बनता । और इसलिये अर्हन्त देवमें बिना इच्छा तथा प्रयत्नवाला कर्तृत्व सुघटित है । इसी कर्तृत्वसे लक्ष्यम रखकर उन्हें 'शांतिसे विधाता कहा गया है— इच्छा तथा प्रयत्नवाले कर्तृत्वकी दृष्टिमें वे उससे विधाता नहीं हैं । और इस तरह कर्तृत्व विषयमें अनेकान्त चलता है—सर्वथा परात्पक्ष जैनशासनम प्राप्य ही नहीं है ।

यहाँ प्रसंगवश इतना और भी बतला देना उचित जान पड़ता है कि उक्त पद्यके तृतीय चरणम सामारिक क्लेशों तथा भयोंकी शांतिम कारणीभूत होनेकी जो प्रार्थना की गई है वह जैनी प्रार्थनाका मूलरूप है, जिसका और भा स्पष्ट दर्शन पितृत्वकी प्रार्थनाम प्रयुक्त निम्न प्राचान्तम गायाम पाया जाता है—

दुस्व खग्रो कम्म-खग्रो समाहिमरण च बोहि-लाहो य ।
मम होउ तिजगमधव ! तव जिणवर चरण-मरणेण ॥

इसमें जो प्रार्थना की गई है उसका रूप यह है कि—हे त्रिजगतके (निर्निमित्त) बंधु जिनदेव ! आपने चरण शरणके प्रमाणसे मेरे दुःखोंका क्षय, कर्माका क्षय, समाधिपूर्वक मरण और सम्यग्दर्शनादिकका लाभ होये । इससे यह प्रार्थना एक प्रकार से आत्मोत्कर्षकी भावना है और इस बातको सूचित करती है कि जिनदेवकी शरण प्राप्त होनेसे—प्रसन्नतापूर्वक जिनदेवके चरणों का आराधन करनेसे—दुःखोंका क्षय और कर्माका क्षयादिक गुरु साध्य होता है । यही भाव समस्तमनुष्यकी उक्त प्रार्थनाका है । इसी भावना लेकर "मतिप्रदेक स्तुयतोऽस्तु नाथ !" (२५) "भवतु ममाऽपि भवोपशांतये (११५)" जैसी दूसरी भी अनेक प्रार्थनाएँ की गई हैं । परंतु ये ही प्रार्थनाएँ जब जिनदेवकी साक्षात् रूपम बुझ करने-करानेके लिये प्रेरित करती हुई जान पड़ती हैं तो ये अलंकृत रूपको धारण किये हुए होती हैं । ऐसी अलंकृतरूप-

गारिणी प्रार्थनाओंके स्वयम्भूस्तोत्रगत कुछ नमूने इस प्रकार हैं—

- १ पुनातु चेतो मम गामिनन्दन. (५)
- २ जिन श्रिय मे भगवान् विधत्ताम् (१०)
- ३ ममार्य ! देया शिवतातिमुच्चै. (१५)
- ४ पूयात्पत्रिनो भगवान् मनो मे (४०)
- ५ श्रेयमे जिनरूप ! गमीद न. (७५)

य मत्र प्रार्थनाएँ चित्त को पवित्र करने, जिनश्री तथा शिव-मन्तविको देने और कल्याण करनेकी याचनाको लिये हुए हैं, आत्मोत्कर्ष एवं आत्मविकासका लक्ष्य करके की गई हैं, इनमें असंगतता तथा असंभाव्य जैसी कोई बात नहीं है—सभी जिनेद्र-देवके सम्पर्क प्रभाव तथा शरणम आनेमें मय्य सफल होनेवाली अथवा भक्ति उपासनाके द्वारा साज साध्य हैं—और इसलिये अलंकारकी भाषाम की गई एक प्रकारकी भावगाँँ ही हैं।

साम्प्रतम परमरीतरागत्वसे प्रियेकीजनकी प्रार्थनाका अर्थ देवके समक्ष अपनी भावनाको व्यक्त करना है अथवा या कहिये कि अलंकारकी भाषाम मन कामना व्यक्त करके यह प्रकट करना है कि 'वह आपके चरण-शरण एवं प्रभानभ रहकर और उससे कुछ पदाथे पाठ लेकर आत्मशक्तिको जागृत एवं विरसित करना हुआ अपनी मन इच्छा कामना या भावनाको पूरा करनेमें समर्थ होना चाहता है। उसका यह आशय कदापि नहीं होता कि धीतराग-देव भक्तकी प्रार्थनासे द्रवीभूत होकर अपनी इच्छाशक्ति एवं प्रय-नान्तिकी कामम लाते हुए स्वयं उसका कोई काम कर लेंगे, अथवा दूसरोंमें प्रेरणात्तिक द्वारा करा लेंगे। ऐसा आशय असंभाव्यको संभाव्य बनाने जैसा है और देवके स्वरूपमें अनभिज्ञता व्यक्त करता है।

प्रथम पक्षको सत्पाप ठहराते हुए स्वामीजी लिखते हैं —

पाप भुव परे दु ग्नात्पुण्य च सुखतो यदि ।

अचेतनाऽऽरपायी च रथेयाता निमित्तत ॥ ६० ॥

‘यन्नि परम दु खाल्पात्तम पापना और मुखोत्पादनमे पुण्यया हाना निश्चित है—एसा एकांत मात जाय—तो फिर अचेतना पत्तार्थ और अरुपायी (वीनरागी) जीव भी पुण्य पापसे बंधने चाहिये, क्योंकि वे भी दूसरोंम मुख दुखरी उपस्थिते निमित्त कारण होते हैं ।

भावार्थ—जब परम मुख दुखका उत्पादन ही पुण्य पापका एक मात्र कारण है तो फिर दूर मलाइ तथा विष कण्टकादिक अचेतन पत्तार्थ, ता दूसराक मुख दुखने कारण बात है, पुण्य पापक रथकता क्यों नहीं ? परंतु यह कोई भी पुण्य पापके बंधनर्ता नहीं मानता—बादा परम शुभकर दूसरोंके दुख उपन करता है, इतन मात्रसे उसे कोई पापी नहीं कहता और १ पाप फलदायक कर्मपरमाणु ही उससे आकर चिपन्त अथवा बंधको प्राप्त होते हैं । एसी तरह दूर मलाइ चट्टाओंको आनंद प्रदान करते हैं, परंतु उनके इम आनंदसे दूध मलाइ पुण्यात्मा नहीं बह जाते और न उनम पुण्य फलदायक कर्म परमाणुओंका ऐसा कोई प्रवेश अथवा संयोग ही होता है जिसका फल उन्हें (दूध मलाइको) वात्को भोगना पड़े । इसमे उक्त एकांत सिद्धांत स्पष्ट सत्प्राप जान पड़ता है ।

यन्नि यह कहा जाय कि चेतना ही बंधने योग्य होते हैं अचेतन नहीं, तो फिर क्पाय रहित वीतरागियाने त्रिषयम आपत्तिको कैसे नाला जायगा ? वे भी अनेक प्रकारसे दूसरोंके दुख मुखके कारण बनते हैं । उदाहरणके तौर पर किसी मुमुक्षुको मुनिदीक्षा देते हैं तो उनके अनेक मन्त्रविधियोंके द्वारा पट्टेचता है । शिष्यों

तथा जनताको शिक्षा देते हैं तो उससे उन लोगोंको सुख मिलता है। पूर्ण मात्राधानीके साथ इर्यापय शोकर चलते हुए भी कभी कभी दृष्टिपथसे बाहरका कोई जीव अचानक कूटकर पैर तले आ जाता है और उनके उस पैरसे नजर मरजाता है। मायासर्ग-पुनर ध्यानास्थाम रिक्त होने पर भी यदि कोई जीव तेजीसे चलना आकर उनके शरीरमें टकरा जाता है और मर जाता है तो इस तरह भी उस जीवके मार्गम बाधक होनाम व उसके दुःखके कारण बनते हैं। अनर निर्मितरुपाय अद्विधारी वीतरागी साधुओंके शरीरके स्पर्शमात्रसे अथवा उनके शरीरको स्पर्श की हुई वायुके लगनेसे ही रोगजन निरोग होजाते हैं और यद्येष्ट सुखना अनुभव करते हैं। ऐसे और भी बहुतसे प्रकार हैं जिनमें वे दूसरोंके सुख दुःखके कारण बनते हैं। यदि दूसरोंके सुख दुःखना निमित्त कारण बननेमें ही आत्मापुण्य पापना आसन्नव-वध होना है तो फिर ऐसी हालतमें व नपाय रहित साधु कैसे पुण्य-पापके बधनसे बच सकते हैं ? यदि वे भी पुण्य पापके बधनमें पड़ते हैं तो फिर निर्बध अथवा मोक्षकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि बधना मूलकारण कपाय है। कहा भी है—
 “कपायमूर्त्तं सकलं हि वधनम्। “मरुपायनाञ्जीव कमणो योग्यान् पुद्गलानान्ते स वध ।” और इसलिये अरुपायभाव मोक्षना कारण है। जब अरुपायभाव भी बधना कारण हो गया तब मोक्षके लिए कोई कारण नहीं रहता। कारणके अभावमें कार्यना अभाव ही जानेसे मोक्षना अभाव टहरता है। और मोक्षके अभावमें नरकी भी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि बध और मोक्ष जैसे सप्रतिपक्ष धर्म परस्परमें अविनाभाव सम्बन्धमें विद्ये होते हैं—“कने विना दूसरेना अस्तित्व उन नहीं सकता, यह बात प्रथम तेसमें भले प्रकार स्पष्ट ही जा चुकी है। है। जब नरकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती तब पुण्य-पापके

प्रथम पक्षो मन्वेष ठहराते हुए स्वामीजी लिखते हैं —

पाप तु परे दुःखात्पुण्यं च सुखतो यदि ।

अचेतनाऽऽप्यायौ च रध्येयाता निमित्ततः ॥ ६२ ॥

‘यदि परम दुःखोत्पन्नसे पापमा और सुखोत्पन्नसे पुण्यमा होना निश्चित है—ऐसा एकांत माना जाय—तो फिर अचेतन पदार्थ और अप्यायौ (वीतरागी) जीव भी पुण्य पापसे बंधने चाहिये, क्योंकि वे भी दूसरोंसे सुख दुःखकी उत्पत्तिके निमित्त कारण होते हैं ।

भावार्थ—तब परम सुख दुःखका उत्पादन ही पुण्य पापका एक मात्र कारण है तो फिर दूध मलाई तथा विष-कण्टकादिक अचेतन पदार्थ, जो दूसरोंसे सुख दुःखके कारण बनते हैं, पुण्य पापसे त्रय्यता क्यों नहीं? परंतु इन्हें कोई भी पुण्य-पापके बंधकता नहीं मानता—काटा पैरम चुभकर दूसरोंको दुःख उपन्न करता है, इतना मात्रमे उसे कोई पापी नहीं कहता और न पाप फलदायक कर्मपरमाणु ही उससे आकर चिपकते अथवा बंधको प्राप्त होते हैं । जमी तरह दूध मलाई बहुताको आनंद प्रदान करते हैं, परंतु उनके इस आनंदसे दूध मलाई पुण्यात्मा नहीं कहे जाते और न उनमें पुण्य फलदायक कर्म परमाणुओंका ऐसा कोई प्रवेश अथवा संयोग ही होता है जिम्मा फल उन्हें (दूध मलाईको) साधको भोगना पड़े । इसमें एक एकांत सिद्धान्त स्पष्ट मन्वेष जान पड़ता है ।

यदि यह कहा जाय कि चेतन ही बंधके योग्य होने हैं अचेतन नहीं, तो फिर कपाय रहित वीतरागियाके विषयमें आपत्तिको कैसे टाला जायगा? वे भी अनेक प्रकारसे दूसरोंके सुख-दुःखके कारण बनते हैं । उदाहरणके तौर पर किसी मुमुक्षुको मुनिदीक्षा देते हैं तो उनके अनेक सम्यग्गियोंको सुख पहुँचता है । शिष्यों

जब जन्मादिद्वारा श्रेय है तो उससे उन लोगोंके मुक्त भिन्ना
 है। पूर्ण मजदारीके साथ ईर्ष्यापय शौरकर वनते हुए भी कभी
 कभी जन्मस्य बाहरसा कोई जीव अचानक वृत्कर पैर सले था
 जाता है और उनक वस पैरसे दवरर नरजाता है। कायाना-
 पूर्वक श्रानाकामों स्थित होने पर भी यदि कोई जीव तेजीसे
 न जा जाकर उनके शरीरसे टकरा जाता है और मर जाता
 है ता इन तरह भी हम जीवके मार्गम वारक होनेसे व उनके
 दुन्दभरा वनते हैं। अनन्य निर्जितरुपाय अद्विधारी चीन्गी
 मजदारी शरीरक सर्गमात्रसे अथवा जन शरीरका सर्ग की
 दूर वारके लगनम ही रोगाजन निरोध होनेते हैं और ब्येष्ट
 मुक्त श्रुतमय करते हैं। ऐसे और भी वृत्तम प्रकार हैं जिनमें
 व त्पराक मुक्त दुरके कारण वनते हैं। यदि सुसंगे सुग-
 य निमित्त कारण वननेसे ही आत्मान पुर्य प्राप्त आद्य-
 होता है तो फिर एसी हालतमें व कया-रजि मावु कैसे पुर्य-
 पाके व धनसे वच सकते हैं? यदि व भी पुर्य-प्राप्ते व धनमें
 पन्न हैं तो फिर निर्नेय अथवा माइती कोई श्रम्या नहीं वन
 सकती, क्योंकि व वस मृतशाय वपाव है। वस्तु भी है—
 “वपावमूलं सकलं वि वरतन्” “मदयावनाजीन क्त्तमे
 योग्यान् पुद्गलानां चै म रर ।” और इमलिय अरुनायनाय
 माचुका कारण है। पर अरुनायनाय भा वपरा वररु तो
 गया वन मोचक निग कोई वारग नी रता। कारणके अनागमें
 कायसा अभाव हो जानसु मादय अभाव गदरता है। और मोच
 के अभावमें वपरी भी कोई व्यवसा नहीं वन सकती कनेकि
 वप और माचु लैस अरुतरक धर्म परगारम अदिनायनाय
 मय-यस विर वत है—कड निता इनरेका अभिनय वन नहीं
 सकता, व वल प्रम लय मल प्रधर साध की जा चुकी है।
 है। वन वपरी की व्याख्या नहीं वन सकती वन पुर्य-पापके

बन्धनी कथा ही प्रतापमात्र हो जाती है। अतः चेतन
हृत्तिसे भी पुण्य पापकी उक्त अज्ञात-व्यवस्था सन्तोष है

यहाँ पर यन्त्रि यन्त्र कहा जाय कि उन अरूपाय जीवों
को सुख दुःख पहुँचाना कोई सन्तोष या अभिप्राय नहीं हो।
प्रकारकी जोड़-पट्टा नहीं होती और न उस विषयमें उनमें
आसक्ति ही होती है, इसलिये दूसराके सुख दुःखकी उप
निमित्तकारण होनेसे वे बन्धनों प्राप्त नहीं होते, ता फिर दू
दुःखोत्पन्न पापना और सुखोत्पन्न पुण्यना हेतु है, यह एक
सिद्धांत कैसे बन सकता है ?—अभिप्रायभावके कारण अत्र
भी दुःखोत्पन्नमे पापना और सुखोत्पन्नसे पुण्यका बन्ध न
हो सकेगा, प्रत्युत इनके विरोधी अभिप्रायके कारण दुःख पतिस
पुण्यका और सुखोत्पत्तिसे पापना बन्ध भी होसकेगा। जैसे एक
डाक्टर सुख पहुँचानेके अभिप्रायसे पूर्णसावधानीके साथ फोडेना
ऑपरेशन करता है परन्तु फोडेको चीरते समय रोगीको कुछ
अनिवार्य दुःख भी पहुँचाता है, उस दुःखके पहुँचनेसे डाक्टरको
पापना बन्ध नहीं होगा इतना ही नहीं, बल्कि उसकी दुःखविरो
धी भावनाके कारण यह दुःख भी पुण्य बन्धका कारण होगा।
इसी तरह एक मनुष्य अपायभावके वशवर्ती होकर दुःख पहुँचाने
के अभिप्रायसे किसी कुत्तेका लात मारता है, जानने लगते ही
अचानक उसका कुत्तेपान भिट जाता है और वह सुरक्षा अनु
भव करने लगता है, अज्ञान भी है—“कुत्ते गुण लात लग गई”
—तो कुत्तेके इस सुखानुभवसे लात मारन वालेका पुण्यफलकी
प्राप्ति नहीं हो सकती—उसे तो अपनी भुग्विरोधिनी भावनाके
कारण पाप ही लगेगा। अतः प्रथमपक्ष वालोंका अज्ञानात
सिद्धांत कि ‘परम सुख दुःखका उत्पादन पुण्य पापना हेतु है’
पूर्णतया सन्तोष है, और इसलिये — भी
नहीं कह सकते।

अपने पक्षों दूषित ठहरते हुए आचार्य महोदय लिखते हैं—

पुर्य ध्रुव स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि ।

वीतरागो मुनिविद्वान्स्वाम्या युज्यान्निमित्तत ॥६३॥

यदि अपनेम दुःखोत्पादनसे पुर्यरा और सुखोत्पादनसे पापका बंध ध्रुव है—निश्चितरूपमें होता है ऐसा पक्षान्त माना जाय, तो फिर वीतराग (कषायरहित) और विद्वान् मुनिजन भी पुर्य-पापसे रक्षित रहिये, क्योंकि ये भी अपने सुख दुःखकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण होते हैं ।

भावार्थ—वीतराग और विद्वान् मुनिके त्रिमल-योगादिक अनुष्ठान-द्वारा कायक्लेशान्तरूप दुःखकी और तत्त्वज्ञानजन्य सर्वोपलक्षणरूप सुखकी उत्पत्ति होती है । जब अपनेम दुःख-सुख के उत्पादनसे ही पुर्य-पाप बंधता है तो फिर ये अपनाय जीव पुर्य-पापके बंधनसे कैसे मुक्त रह सकते हैं? यदि उनके भी पुर्य-पापका ध्रुव बंध होता है तो फिर पुर्य पापके अभावकी कभी अपसर नहीं मिल सकता, और न कोई मुक्ति होनेमें योग्य हो सकता है—पुर्य-पापरूप दोनों बंधोंके अभावमें बिना मुक्ति होती ही नहीं । और मुक्तिके बिना बंधनान्तिकी भी कोई व्यवस्था स्थिर नहीं रह सकता, जसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है । यदि पुर्य पापके अभाव बिना भी मुक्ति मानी जायगी तो सत्त्विके—मंसार अथवा सामारिक जीवोंने—अभावका प्रसंग आगंगा, जो पुर्य पापकी व्यवस्था माननेवालोंमें किसीको भी इष्ट नहीं है । ऐसी हालतमें आम-सुख उत्पत्ति द्वारा पाप पुर्यके बंधनका यह समाप्त सिद्धांत भी सदोप है ।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि अपनेम दुःख-सुखकी उत्पत्ति होने पर भी तत्त्वज्ञान-साम्यागियोंके पुर्य पापका बंध २५

नहीं होता कि उनके दुख-सुखसे उत्पादनका अभिप्राय नहीं होता, वैसी कोई इच्छा नहीं होती और न उस विषयमें आसक्ति ही होती है, ना फिर हमसे तो अनेकान्त सिद्धातकी ही मिद्धि होती है—
 एक प्रकारकी नहीं। अर्थात् यद् नतीजा निम्नता है कि अभि-
 प्रायको लिये हुए दुख सुखका उत्पादन पुण्य पापका हेतु है,
 अभिप्रायविहीन दुख सुखका उत्पादन पुण्य पापका हेतु नहीं है।

अब हमें जानना प्रकार सिद्धात प्रमाणसे वांछित है, इष्टके
 भी प्रकृत पक्ष हैं और इसलिये ठीक नहीं रहे जा सकन।

इन आपश्चियांसि बचने आदिके कारण जा लाग गेनों
 प्रकारकी अंगीकार करते हैं, परन्तु स्याद्वाक्यके सिद्धातकी नहीं
 गाना—अपेक्षा अनपेक्षाको स्वीकार नहीं करते—अथवा अवा-
 च्यतीकातका अयलम्बन लेकर पुण्य पापकी व्यवस्थाको अवा-
 च्यक्य बतलाते हैं जन्मी भावता म—

“विरोधाद्योभयैकात्म्य स्याद्वाद-न्याय त्रिद्विषाम् ।

अथाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥”

इस कारिका (नं० ६४) के द्वारा विरोधात् त्रिदूषण गेनेके अन-
 तर, स्वामी सम-तमद्रने स्व परस्थ सुख दुःखादिकी दृष्टिसे
 पुण्य पापकी जो सम्यक् व्यवस्था अहंमतानुसार बतलाइ है
 उगरी प्रतिपादक-कारिका इस प्रकार है —

विशुद्धि-सकलेशाङ्ग चेत् स्व-परस्थ सुखाऽसुखम् ।

पुण्य पापासन्नौ युक्तौ व्यर्थस्तवाऽर्हत ॥६५॥

इसमें बतलाया है कि स्व-परस्थ सुखाऽसुखम् मतम म— हा

या परस्थ—अपनको हो
 है तो उस पुण्यासन्नका,
 हेतु है, जो युक्त है—

विशुद्धि तथा संकलेश दोनोंमेंमे किमीका अंग नहीं है ता पुण्य पापमें किमीके भी युक्त आस्रयना—अथ-अव्ययव्यापक भास्य-राविक आस्रयना—हेतु नहीं है। (व-गऽभावके कारण) वह व्यर्थ होता है—उसका कोई फल नहीं।

यहाँ 'संकलेश का अभिप्राय आर्त-रीद्रध्यानके परिणामसे है—'आर्त-रीद्र-ध्यानपरिणाम संकलेश' ऐसा अकलकदेवो 'अष्टशती' टीकामें स्पष्ट लिखा है और श्रीविद्याने भी उमे 'अष्टमदशी' म अपनाया है। 'संकलेश' शब्दके साथ प्रतिपक्ष-रूपमें प्रयुक्त होनेके कारण 'विशुद्धि' शब्दका अभिप्राय 'संकलेशाऽभाव है ('तन्मात्र विशुद्धि' इत्यन्तर) —उस छाया-लक्षणा तथा अग्निशरी परमशुद्धिका अभिप्राय नहीं है जो निबरोप-रागातिके अभावरूप होती हैं—अविशुद्धिमता पुण्य-पाप-अधके लिये कोई स्थान ही नहीं है। और इसलिये विशुद्धिका आशय यहाँ आर्त-रीद्रध्यानमें रहित शुभपरिणतिका है। वह परिणति धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यानके स्वभावको लिये हुए जाता है। उसी परिणतिके होनपर ही आत्मा स्वात्मान—स्वम्यरूपमें—स्थितिके प्राप्त होता है, चाहे वह कितन ही अशौच क्या न हो। इसीसे अकलकदेवने अपनी व्याख्यान, इस संकलेशाभावरूप विशुद्धिके 'आत्मन स्वात्म-यत्स्थानम्' रूपसे उल्लिखित किया है। और इससे यह नतीजा निकलता है कि उक्त पुण्य प्रमाधिकी विशुद्धि आत्माके विकासमें सहायक होती है, जब कि संकलेश-परिणतिमें आत्माका विकास नहीं बन सकता—वह पाप प्रमाविके होनेसे आत्माके अध-पतनका कारण बनती है। इसी लिये पुण्यको प्रशस्त और पापको अप्रशस्त कर्म कहा गया है।

विशुद्धिके कारण, विशुद्धिके कार्य और विशुद्धिके स्वभावको 'विशुद्धिअंग' कहते हैं। इसी तरह संकलेशके कारण, संकलेशके कार्य तथा स्वभावको 'संकलेशाङ्ग' कहते हैं। स्व-पर-सुख दु-ख यदि विशु-

द्विश्रंगको लिये हुए हाता है तो वह पुण्य रूप शुभ-व्यय और संक्लेशाङ्गको लिए हुए होता है तो पाप रूप अशुभ-व्ययका कारण होता है, अथवा नहीं। तत्त्वार्थसूत्रम्, “मिथ्यादर्शनाऽविरतप्रमादरूपाययोगावप्रहेतवः” इस सूत्रके द्वारा मिथ्यादर्शन, अनिरति, प्रमाद, वपाय योगरूपसे व्ययके जिन कारणोंका निर्देश किया है वे सब संक्लेशपरिणाम ही हैं, क्योंकि आर्त-रौद्रध्यानरूप परिणामोंके कारण होनेसे ‘संक्लेशाङ्ग’ में शामिल हैं, जैसे कि हिमाग्नि क्रिया संक्लेशकार्य होनेसे संक्लेशाङ्गमें गर्भित है। अतः स्वामी समात्मद्रके इस कथनसे उक्त सूत्रका कोई विरोध नहीं है। इसी तरह ‘कायमाहमन कर्म योग’, ‘स आस्रव’, ‘शुभ पुण्यस्याऽशुभ पापस्य’ इन तीन सूत्रोंके द्वारा शुभकायादि-व्यापारको पुण्यास्रवना और अशुभकायादि-व्यापारको पापास्रवना जो हेतु प्रतिपादित किया है वह कथन भी इसके विरुद्ध नहीं पड़ता, क्योंकि कायादि योगके भी विशुद्धि और संक्लेशने कारण-कार्य-स्वभावके द्वारा विशुद्धित्व-संक्लेशवरी व्यवस्थिति है। संक्लेशने कारण-कार्य-स्वभाव उपर घतलाप जा चुके हैं, विशुद्धिके कारण सम्यग्दर्शनादिक हैं, धर्मध्यान तथा शुभलक्षण उसके स्वभाव हैं और विशुद्धिपरिणाम उसका कार्य है। जैसी हालतमें स्व पर दुःखनी हेतुभूत कायादि क्रियाएँ यदि संक्लेश-कारण कार्य स्वभावको लिए हुए होती हैं तो वे संक्लेशाङ्गत्वके कारण, विपक्षलादिरूप कायादिक्रियाओंकी तरह, प्राणियोंको अशुभफलदायक पुद्गलोंके सम्बन्धका कारण बनती हैं, और यदि विशुद्धि-कारण-कार्य स्वभावको लिए हुए होती हैं तो विशुद्धपङ्कत्वके कारण, पथ्य आहारादिरूप कायादिक्रियाओंकी तरह, प्राणियोंके शुभफलदायक पुद्गलोंके सम्बन्धका कारण होती हैं। जो शुभफलदायक पुद्गल हैं वे पुण्यकर्म हैं, जो अशुभफलदायक पुद्गल हैं वे पापकर्म हैं, और इन पुण्य पाप-कर्मोंके अनेक भेद

हैं। इस प्रकार सच्चेरसे इस कारिनामें संपूर्ण शुभाशुभरूप पुण्य-पाप कर्मके आसन्न-बन्धना कारण सूचित किया है। इससे पुण्य-पापकी व्यवस्था बतलानेके लिये यह कारिका कितनी रहस्यपूर्ण है, इसे निम्न पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

साधारण हम सब कथनका इतना ही है कि—सुख और दुख दोनों ही, चाह स्वस्थ हों या परस्थ—अपनेको हों या दूसरोंको—कथचिन् पुण्यरूप आसन्न-बन्धके कारण हैं, निशुद्धिके अंग होनेसे, कथचिन् पापरूप आसन्न-बन्धके कारण हैं, मन्त्रेशके अंग होनेसे, कथचिन् पुण्य पाप उभयरूप आसन्न-बन्धके कारण हैं, कर्मापित निशुद्धि-सम्प्लेशके अंग होनेसे, कथचिन् अवक्तव्यरूप हैं, सत्कर्मापित निशुद्धि मन्त्रेशके अंग होनेसे। और निशुद्धि-सम्प्लेशका अंग न होने पर दोनों ही बन्धके कारण नहीं हैं। इस प्रकार नय विनष्टानेके लिए हुए अनेकान्तमार्गसे ही पुण्य पापकी व्यवस्था ठीक बैठती है—मर्त्या एका-तपस्सना आश्रय लेनेसे नहीं। एकांत पक्ष सदोप है, जैसाकि ऊपर बतलाया जाचुगा है और इसलिये यह पुण्य पापका सम्यक्-व्यवस्थापन नहीं हो सकता।



महावीर प्रिन्टिंग सर्विस, १ अमारा रोड, दरियागञ्ज देहली।

मुद्रक—सूय प्रिन्टिंग प्रेस देहली।

वीरसेवामंदिरके अत्युपयोगी प्रकाशन

- (१) समाधितंत्र और छोटोपदेश—श्रीश्री-यशोवन्तबायकी अर्घ्यात्म विषयक दो अठ्ठी श्रुतिया, सस्वृत हिन्दी टीकाप्रति अलकृत तथा मुस्तार-श्रीकी प्रस्तावनासे भूषित (नया सस्वरण) पृष्ठ ३५२, मजिल ३)
- (२) जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह—सस्वृत और प्राकृतक १७१ अक्षरवागित अर्थोंकी प्रास्तियोका मंगलाचरण-सहित अशुभ संग्रह उपयोगी ११ परिणिष्ठा, डाक्टर ए एन उपाध्याय एम ए के 'प्राकृत्यन' और प० परमानन्द गान्धीकी इतिहास-साहित्य विषयक परिचयका लिये हुए ११६ पृष्ठ की प्रस्तावनासे भूषित । पृष्ठ ४१६, मजिल ४)
- (३) स्वयम्भूमोत्र—ममन्तभद्रभारतीका अशुभ ग्रन्थ मुस्तार श्रीशुगल किशोरके विनिष्ठा हिन्दी अनुवाद, अक्षरपरिचय, समन्तभद्र परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कामयोगका विन्नेषण करती हुई महत्त्वकी गवयणपूरा १०६ पृष्ठकी प्रस्तावनासे सुगोभित २)
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी ममन्तभद्रका अनोखी कृति, पापाका जीतनकी कथा, मटीक, मानुवा और श्रीशुगलविहार मुस्तारका महत्त्वकी प्रस्तावनासे अलकृत गुन्तर जिल्ला-महित १॥)
- (५) अर्घ्यात्मकमलमार्तण्ड—अर्घ्याधीके कथा कवि राजमलकी सुन्तर अर्घ्यात्मिक रचना, हिन्दी अनुवाद-महित और मुस्तार श्रीशुगल विहारका साजपूरा ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित १॥)
- (६) युक्त्यनुशासन—नेस्वगानस परिपूर्ण समतभद्रकी अभाधारणकृति, जिमका अमानव हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था । मुस्तार श्रीशुगल किशोरके विनिष्ठा हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिम अलकृत १॥)
- (७) सत्माधु मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर-वदमान और उनके बादक २१ महान अर्घ्याधीके १३७ पृष्ठ स्मरणका महत्त्वपूर्ण संग्रह, मयो जब मुस्तार श्रीशुगलकिशोरके हिन्दी अनुवाद-महित ॥)
- (८) मेराधर्म—अमक ममकी समभानवाला मुस्तारश्रीका उत्तम निबन्ध सू० ७॥ प्रचारक लिये यह तथा अगला पुस्तक ७) प्रतिगत
- (९) परिग्रहका प्रायश्चित्त—मुस्तारश्रीका अशुभ निबन्ध, परिणिष्ठाके रूपमें निष्ठाप्रद मन्तवचनको लिये हुए ७॥)

